

संपादकीय

## इक्कीसवीं सदी का भारतीय सिनेमा

महेश सिंह  
संपादक

**अरसे** बाद मुझे, मेरा बचपन याद आ रहा है। याद आ रहे हैं, हर्दीश काका, फुलबास चचा, ओमप्रकाश सिंह और मेरे बाबूजी, जबकि मुझे बात करनी है इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा पर। लेकिन, जब इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा के बारे में सोचता हूँ और उसके व्यापक परिदृश्य का अवलोकन करता हूँ, तो, मुझे बचपन की याद आना बड़ा ही स्वाभाविक सा जान पड़ता है। क्योंकि, इससे तब से लेकर अबतक के समाज में आये तमाम तरह के बदलावों की स्पष्ट रूप-रेखा मेरे मानस पटल पर उभर आती है और मैं आसानी से यह देख सकता हूँ कि भारतीय समाज की तरह भारतीय सिनेमा भी कितना बदल चुका है। इसलिए मैं आज के सिनेमा पर बात करूँ उससे पहले मेरे बचपन में चिन्हित किये गए उपरोक्त पात्रों पर बात कर लेना जरूरी समझता हूँ।

वह जमाना वीडियो-वीसीआर का था। गाँवों में बिजली नहीं पहुँच पायी थी, जिन गाँवों में पहुँची भी थी वहाँ उसके आने-जाने का समय निर्धारित नहीं था; इसलिए शादी-विवाह के मौके पर ही गाँव में वीडियो-वीसीआर मंगाया जाता था, वह भी जेनरेटर के साथ। हर्दीश काका, मैं और फुलबास चचा जैसे लोग वीडियो के इस कदर दीवाने थे कि, आधी रात को भी पता चले कि फलॉ गाँव में वीडियो चल रहा है। भले ही वह गाँव 5-6 किलोमीटर दूर ही क्यों न बसा हो। हम उसी वक्त उस गाँव में वीडियो देखने के लिए पैदल ही निकल पड़ते थे। ओमप्रकाश सिंह के बारे में उनके साथी लोग यह बताते हैं कि, 'नदिया के पार' फिल्म को उन्होंने तक्ररीबन बीसों बार सिनेमाघर में जाकर देखा था; न सिर्फ देखा था, बल्कि 'गुंजा' को तो उन्होंने अपनी प्रेमिका तक मान लिया था। अंतिम पात्र हैं मेरे बाबूजी, जो सिनेमा और उपन्यास, देखने और पढ़ने के सख्त विरोध में थे। उनका मानना था कि- इससे लड़के आवारा हो जाते हैं।

लेकिन, आज जब अपने गाँव लौटता हूँ और इन सभी पात्रों को देखता हूँ तो आश्चर्य होता है कि कितने बदल गए हैं ये लोग। हर्दीश काका और फुलबास चचा जैसे लोगों ने पिछले 15-20 सालों में इक्की-दुक्की ही फिल्में देखी होंगी। ओमप्रकाश सिंह जैसे लोग परिवार की समस्याओं में इतना उलझ चुके हैं कि सिनेमा हॉल जाना ही छोड़ दिया और आज के सिनेमा का जिक्र आते ही गाली देने लगते हैं, कहते हैं – 'आजकल की फिल्में, फिल्म नहीं बल्कि ऐसा स्नान-घर है जिसमें दरवाजा और छत नहीं है, जहाँ स्त्रियाँ नंगी होती हैं।' हालाँकि मैं उनके इस विचार से सहमत नहीं हूँ। अगले पात्र हैं मेरे बाबूजी- सिनेमा के प्रति उनकी नफरत में कमी देखी जा सकती है, क्योंकि टीवी पर आने वाली फिल्मों को बड़े गौर से देखते हैं। जहाँ तक मेरी बात है तो अब मैं वीडियो या टीवी की फिल्मों का दीवाना नहीं रहा, कुछ चर्चित और अच्छे निर्देशकों की

फिल्मों को मल्टीप्लेक्स पर्दे पर जाकर देख लेता हूँ। चूँकि मेरे अध्ययन का क्षेत्र ही सिनेमा है इसलिए मैं अपने आपको सामान्य दर्शक नहीं मानता और यहाँ पर इस चर्चा से बाहर निकाल लेता हूँ।

यहाँ हो सकता है – आपको, ऊपर दिया गया यह ब्यौरा अटपटा लगे, लेकिन यह एक बड़ा प्रश्न है..? - कि, आखिर वह फिल्मों का दीवाना दर्शक इतना बदल कैसे गया ? उनकी सोच में इतना बदलाव आया कहाँ से ? इस संदर्भ में एक बात और जोड़ लेता हूँ ; यदि मैं अपने गाँव के इन लोगों को आधार मानकर चलूँ तो यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि भारत के लगभग सभी गाँवों की दशा एक जैसी ही है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि हर्दिश काका, फुलबास चचा, ओमप्रकाश सिंह और मेरे बाबूजी जैसे लोग प्रत्येक गाँव में रहते हैं जिनका आज के समय में सिनेमा के प्रति सोच और वह दीवानापन बदल चुका है। अब मूल बात पर आते हैं और मूल बात यह है कि भारतीय सिनेमा के दर्शकों में आये इस बदलाव का कारण क्या है ?

इसका कारण, हमें हमारी आँखों के सामने साफ-साफ तो दिख रहा है, लेकिन, वह कहीं नहीं है और जो कहीं नहीं है, वह हर जगह व्याप्त है। हम उसका विरोध तो कर रहे हैं, लेकिन वह हमारे आगे खड़ा है और हम उसके पीछे। एक तरह से कहें तो वह अपने खिलाफ ही हमसे नारे लगवा रहा है। पर हमारा नेता भी वही है। क्योंकि अपने खिलाफ नारे लगवाने में उसका आर्थिक स्वार्थ छिपा हुआ है। आप सोच रहे होंगे भई यह चमत्कारिक शक्ति है क्या चीज... क्या यह कोई मायावी है। जी हाँ आप बिल्कुल सही सोच रहे हैं। आज के समय में भूमंडलीकरण से ज्यादा मायावी चीज क्या हो सकती है..? आप ठीक से अवलोकन कीजिये और देखिये कि भूमंडलीकरण ने किस चीज को नहीं बदला है। समाज, संस्कृति, राजनीति के अलावा कला, मीडिया, और साहित्य आदि, किसमें हस्तक्षेप नहीं किया है। कुछ याद आ रहा हो तो बताइए। मेरी नज़र में तो कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसको इसने बाजार बना न रखा हो। बाजार भी उस तरह का, जहाँ स्त्री की कोख भी खरीदी और बेची जाती है। भूमंडलीकरण की अवधारणा में पूरे विश्व की मानव जाति के मात्र दो वर्ग हैं, एक क्रेता और दूसरा विक्रेता। यही क्रेता और विक्रेता वाली अवधारणा आज भारतीय सिनेमा में भी गहरे तक समाया हुआ है। और यही वह मूल कारण है जिससे हर्दिश काका, फुलबास चचा और ओमप्रकाश सिंह जैसे सिनेमा के दीवानों की मनोदशा में भारी परिवर्तन हुआ है।

ये तो हुई कुछ दार्शनिक जैसी बातें, बिल्कुल भूमंडलीकरण की तरह मायावी और उलझा देने वाली। तो चलिए इसको अब व्यवहार में लाते हैं। जैसा कि ऊपर जिक्र किया गया है – कि भूमंडलीकरण की अवधारणा में पूरे विश्व की मानव-जाति के मात्र दो वर्ग हैं – एक क्रेता और दूसरा विक्रेता। अब आप तो यह भली-भाँति जानते ही होंगे कि जहाँ कहीं भी खरीद-फरोख्त की बात आ जाए वहाँ संवेदनाओं को एक किनारे धकेल दिया जाता है। चूँकि सिनेमा अपने जन्म से ही ग्लोबल और व्यावसायिक रहा है। लेकिन, इसके सामाजिक और कलात्मक सरोकार भी रहे हैं। इसलिए मेरा मानना है कि सिनेमा, व्यवसाय से पहले कला है। ऐसी कला; जिसमें मनुष्य और समाज की संवेदनाओं को आरोपित करते हुए कलाकार द्वारा जिया जाता है। जिसका दर्शक रसास्वादन करता है। यह रसास्वादन तभी हो सकता है जब दर्शक के भाव और संचारी भाव उद्घ्वेलित हों, वह अपने दुःख, हर्ष, उल्लास इत्यादि को उससे जोड़ सके। यह बात किसी भी कला के लिए

अनिवार्य है। ठीक यही काम सिनेमा बखूबी करता है। यह उसके कलात्मक सरोकार हैं। सिनेमा व्यवसाय से पहले कला इस लिए भी है क्योंकि सिनेमा का व्यवसाय तभी किया जा सकता है। जब कला का प्रदर्शन हो चुका हो। यहाँ प्रदर्शन का तात्पर्य कैमरे के सामने से है। असल में सिनेमा रूपी कला का असल प्रदर्शन कैमरे के सामने ही होता है। दर्शकों के सामने तो फरेबों से भरा चंद सुख का व्यापार है। कहने का मतलब यह है कि दर्शक अपने सामने प्रदर्शित होते हुए कला का आनंद नहीं लेता, बल्कि कैमरे के सामने प्रदर्शित हो चुकी कला का आनंद लेता है। अतः सिनेमा जैसी कला में सामाजिक और कलात्मक सरोकार पहले होता है व्यवसाय बाद में। लेकिन आज की स्थिति इसके बिल्कुल उलट है; भूमंडलीकरण का हस्तक्षेप कैमरे के सामने होने वाली कला के प्रदर्शन तक पहुँच गया है। वह अपनी शर्तों पर फिल्मों के दृश्य, कथानक और अभिनय का प्रदर्शन करवाने लगा है। इस प्रकार इक्कीसवीं सदी के सिनेमा ने भूमंडलीकरण के हस्तक्षेप के कारण अपने लिए एक नया दर्शक वर्ग तैयार किया और उन दीवाने दर्शकों को नजरअंदाज करते हुए दरकिनार कर दिया। यह बात पूरे विश्व के सिनेमा पर भी लागू किया जा सकता है।

जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलु होते हैं उसी प्रकार भूमंडलीकरण और इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा के भी दो पहलु हैं। ऊपर की गयी चर्चा डरावनी और भयावह लगती है लेकिन यह भूमंडलीकरण और इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा के एक पक्ष का यथार्थ है। हम दूसरे पहलू पर चर्चा करे उससे पहले भारतीय सिनेमा की रूप रेखा तय कर लेना जरूरी है।

भारतीय सिनेमा की जहाँ तक बात है तो आज के समय में भारतीय सिनेमा, भारतीय सिनेमा नहीं रहा वह वैश्विक हो गया है। फिर भी इसे भारतीय सिनेमा ही कहा जाता है और आगे भी कहा जाता रहेगा। यहाँ पर विडम्बना यह है कि भारतीय सिनेमा का जिक्र आते ही दिमाग में हिंदी सिनेमा घूमने लगता है। इसका कारण है कि हिंदी सिनेमा के दर्शकों की संख्या दूसरी भारतीय भाषाओं में बनने वाले सिनेमा से कहीं ज्यादा है। हिंदी बोलने और समझने वालों की संख्या भी ज्यादा होने के कारण हिंदी सिनेमा का विज्ञापन कहीं ज्यादा होता है। इसलिए अज्ञानवश कहिये या हिंदी सिनेमा के समीक्षकों की चालाकी, वे दूसरी भारतीय भाषाओं में बनने वाले सिनेमा को क्षेत्रीय सिनेमा कह कर निकल लेते हैं। जिसका नतीजा यह होता है कि हम भ्रम और मुगालते में रहते हैं कि हिंदी सिनेमा ही भारतीय सिनेमा है।

हम सभी जानते हैं -भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था एक संघीय व्यवस्था है। इसके आलावा यह देश प्राकृतिक रूप से भी विभिन्नताओं से भरा हुआ है। भिन्न-भिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं के लोग यहाँ रहते हैं। इन सभी को मिलाकर और कंधे से कन्धा जोडकर ही भारत बनता है। एक भाषा, एक जाति और एक धर्म का भारत न कभी था न कभी होगा। जो ऐसा सोचते हैं वे कुछ और बनाना चाहते होंगे, भारत तो बिल्कुल ही नहीं।

जब हम भारतीय साहित्य की बात करते हैं, तो उसमें सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को शामिल किया जाता है। साहित्य अकादमी द्वारा दिया जाने वाला पुरस्कार भी सभी भाषाओं की साहित्यिक

कृतियों को दिया जाता है। ज्ञानपीठ पुरस्कार भारतीय साहित्य के क्षेत्र में दिया जाने वाला एक राष्ट्रीय पुरस्कार है। इससे पुरस्कृत होने वाला किसी भी भाषा का साहित्य भारतीय साहित्य कहलाता है। सिनेमा के क्षेत्र में दिया जाने वाला राष्ट्रीय पुरस्कार भी सभी भाषाओं में बनने वाले सिनेमा में से किसी एक को दिया जाता है। अब ऐसे में कुछ लोग चालाकी बस सिर्फ हिंदी सिनेमा को भारतीय सिनेमा मानने लगें तो उनके ऊपर सिर्फ दया किया जा सकता है बहस नहीं।

राष्ट्रीयता और भारतीयता में बुनियादी फर्क है – राष्ट्रीयता किसी भी देश की हो सकती है लेकिन भारतीयता सिर्फ भारत की। राष्ट्रीयता उस वक्त बदल सकती है जब हम एक देश से दूसरे देश में जाकर उस देश की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन भारतीयता में ऐसा नहीं होता; हमारा देश बदलने पर भी हमारे अंदर भारतीय संवेदना मौजूद रहती है और दूसरे के द्वारा भी हमें भारतीय ही समझा जाता है। भावनात्मक और संवेदनात्मक स्तर पर भारतीयता का फलक व्यापक है। ठीक इसी दृष्टि से हमें भारतीय सिनेमा को देखना और समझना होगा। हम सिर्फ भाषाई आधार पर देश के सिनेमा को क्षेत्रीय और राष्ट्रीय नहीं कह सकते। अतः देश की किसी भी भाषा में बनने वाला सिनेमा भारतीय सिनेमा है।

चलिए अब देख लेते हैं इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा के दूसरे पहलू को।

समय के साथ-साथ वर्ष और शताब्दी ही नहीं बदलते- राजनीति, समाज, संस्कृति, कला और साहित्य में भी भारी परिवर्तन आता है। विचारधारा और प्रत्येक क्षेत्र की स्थापनाएं भी बदलती हैं। कलारूपों के कथ्य और प्रस्तुति में भारी बदलाव आता है। इक्कीसवीं सदी कह देना तो मात्र एक शताब्दी वर्ष का नामकरण कर देना है। जब तक हम इस सदी विशेष की प्रवृत्तिगत अवधारणा की स्थापना नहीं कर लेते या उसकी पहचान नहीं कर लेते तब तक उस सदी की मूल संवेदना को नहीं समझ सकते। साहित्यकार, कलाकार, दर्शनशास्त्री, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक और समाजशास्त्री इत्यादि लोग समय की इसी प्रवृत्तिगत अवधारणा की स्थापना करने या उसका पता लगाने का कार्य लगातार करते रहते हैं। अतः इक्कीसवीं सदी की तात्कालिक प्रवृत्ति का पता लगाया जा चुका है। यह समय; सूचना-प्रौद्योगिकी, तकनीक और इंटरनेट के कंधे पर बैठकर आया हुआ भूमंडलीकरण का है। जो राष्ट्र को राष्ट्र नहीं रहने देता और मनुष्य को उपभोक्ता मात्र समझता है। भूमंडलीकरण का देवता 'ज्ञान' है और इस ज्ञान रूपी देवता का वाहन है 'पूंजी'; 'पूंजी' सिनेमा निर्माण के लिए सबसे आवश्यक तत्व है। पूंजी नहीं तो सिनेमा का निर्माण भी नहीं किया जा सकता। अतः भारतीय सिनेमा भूमंडलीकरण से बच ही नहीं सकता था। इसी कारण इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा में व्यापक परिवर्तन देखा जा सकता है।

जाने-माने फिल्म समीक्षक अजय ब्रह्मात्मज की माने तो – 'सदी के करवट लेने के पहले के कुछ सालों में लौटें तो हमें निर्माण और निर्देशन में फिल्म बिरादरी का स्पष्ट वर्चस्व दिखता है। समाज के सभी क्षेत्रों की तरह फिल्मों में भी परिवारवाद चलता है। कहा जाता है कि फिल्म बिरादरी एक दूसरे की मदद करने में आगे रहती है, लेकिन जब भी कोई बाहरी प्रतिभा इस बिरादरी में शामिल होना चाहती है तो एक अनकहा

प्रतिरोध होता है। बाहर से आयीं प्रतिभाओं को दोगुनी-तिगुनी मेहनत करनी पड़ती है। अपनी जगह और पहचान बनाने में उन्हें तिरस्कार और अपमान भी झेलने पड़ते हैं। हिंदी फिल्म इंडस्ट्री के गलियारे में 'जाने कहां-कहां से चले आते हैं ?' की झुंझलाहट भरी प्रतिध्वनि अक्सरहाँ सुनाई पड़ती है। यह बात अन्य भारतीय भाषाओं के सिनेमा पर भी लागू होता है। लेकिन, हिंदी सिनेमा जैसा रूढ़ परिवारवाद के बरक्स वहां नए लोगों के लिए काफी जगह थी। मलयालम सिनेमा इस मामले में काफी नरम दिल कहा जा सकता है। बहरहाल ! इक्कीसवीं सदी के सिनेमा में यह बात नहीं रही, भूमंडलीकरण ने तकनीक और पूंजी के खुले प्रवाह के सहारे सिनेमा के ऐसे मठ और गढ़ उजाड़ दिया है। अब तमाम नए निर्माता और निर्देशक सिनेमा के क्षेत्र में आकर अपने हाथ आजमा रहे हैं। इसका ताजा तरीन उदाहरण तमिल सिनेमा के पा. रंजीत और मेरी सेल्वाराज हैं, जिन्होंने 'काला' और 'पेरियेरुम पेरुमल' जैसी फिल्म का निर्माण किया है। आज के समय में ये दोनों फिल्में इतनी प्रासंगिक हैं कि पांडिचेरी विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग ने अपने एम. ए. के पाठ्यक्रम में इन दोनों फिल्मों को शामिल किया है।

समानान्तर सिनेमा के आन्दोलन को यदि छोड़ दिया जाये तो भारतीय सिनेमा लगभग-लगभग एक ही लीक पर चलने के लिए मजबूर था। लेकिन इक्कीसवीं सदी के सिनेमा ने एक बार फिर से नए नये विषयों को उठाना शुरू किया है। 'पिंक', 'अनारकली ऑफ आरा', 'लिपस्टिक अंडर माय बुर्का' 'पी. के.', 'सैराट', 'मोहल्ला अस्सी', 'काला', 'पीकू', 'वीरे दी वेडिंग', 'द डर्टी पिक्चर' पेरियेरुम पेरुमल' जैसी फिल्मों को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है। ऐसी फिल्मों का बनना आज के इस भूमंडलीय समय में ही संभव था।

भारत सरकार द्वारा सिनेमा निर्माण को आधिकारिक रूप से जब से व्यवसाय का दर्जा दिया गया है, तब से पूंजीवादी निगमों और कापोरेट घरानों की अकूत पूंजी भारतीय सिनेमा में बेलगाम होकर घूम रही है। इन निगमों के लिए सिनेमा निर्माण का क्षेत्र गुणात्मक आमदनी का सबसे पसंदीदा क्षेत्र है। उन्हें कला जैसी चीज से कोई सरोकार नहीं, उन्हें तो बस फायदा से मतलब है। त्रिपुरारी शर्मा लिखते हैं – "फायदा' सही शब्द है। पहले हम साहित्य और कलाओं में सामाजिक और सांस्कृतिक संकटों और समस्याओं को देखते थे, अब उनसे होने वाले फायदों को देखते हैं।" (*आज के सवाल 26, संपादक : रमेश उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, पृष्ठ-23*) भूमंडलीकरण और पूंजीवादी निगमों का यही चरित्र है। बहरहाल, भूमंडलीकरण का चरित्र चाहे जैसा हो, लेकिन इस भूमंडलीय समय में प्रतिभा का सम्मान हो रहा है। यह अलग बात है कि इस पूंजीवादी बाजार में इस सम्मान के पीछे छुपा हुआ आर्थिक स्वार्थ देखा जा सकता है। क्योंकि छोटे कस्बों के नये कलाकार आसानी से इन्हें कम कीमत पर उपलब्ध हो जाते हैं। सिनेमा निर्माण में पूंजी लगाने वाले कापोरेट घरानों के लिए किसी भी तरह से यह घाटे का सौदा नहीं कहा जा सकता है।

इक्कीसवीं सदी के भारतीय सिनेमा ने जहाँ नये कलाकारों के लिए सामने का दरवाजा खोला है वहीं तकनीक ने सिनेमा निर्माण को आसान बना दिया है। कम बजट की फिल्मों का न सिर्फ अधिकाधिक निर्माण हो रहा है, बल्कि ज्यादा कमाई करने वाली फिल्मों की सूची में भी इनका स्थान है। इसका प्रभाव इस रूप में देखा जा सकता है कि देश के छोटे महानगरों में भी फिल्मों का निर्माण होने लगा है। भोजपुरी सिनेमा

इसका एक बड़ा उदाहरण है। इसी दौर की फिल्मों को स्त्री की स्वतंत्रता और उनकी अभिव्यक्ति का सिनेमा कहा जा सकता है। आज की फिल्मों का नायक सिर्फ पुरुष नहीं रहा, स्त्री 'नायक' को भी पसंद किया जाने लगा है। 'मर्दानी', 'पिक', 'पिकू', 'कहानी', 'अकीरा', 'नीरजा', '22 फिमेल कोट्टयम' इत्यादि जैसी फिल्में इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि – कुछ न कुछ तो अच्छा घट रहा है आज के भारतीय हिंदी सिनेमा में। लेकिन भूमंडलीकरण से आज की मुख्य चिंता यह नहीं है, बल्कि कुछ और ही है। जवरीमल्ल पारख के शब्दों में- भूमंडलीकरण शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के जनतांत्रिक सिद्धांत पर यकीन रखने वाली अवधारणा नहीं है, बल्कि यह वर्चस्ववादी अवधारणा है। इसे भारतीय सिनेमा के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। हॉलीवुड की तर्ज पर बॉलीवुड की अवधारणा भी इसी वर्चस्व की देन है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के चार दशकों में भारत की कई भाषाओं के सिनेमा का विकास हुआ था, लेकिन पिछले दो दशकों में या तो क्षेत्रीय सिनेमा हाशिये पर पहुँच गया है, या उसकी क्षेत्रीय पहचान लुप्त-सी हो गई है। दक्षिण में आज भी तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं में बड़ी संख्या में फिल्में बन रही हैं, लेकिन उनमें और बॉलीवुड के लोकप्रिय सिनेमा में कोई प्रवृत्तिगत अंतर नजर नहीं आता। इसी तरह बांग्ला, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी आदि भाषाओं में जो रचनात्मक और कलात्मक फिल्में बनती थीं, उनकी परम्परा अब समाप्त हो गई प्रतीत होती है।" (आज के सवाल 26, संपादक : रमेश उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, पृष्ठ-66-67) पारख जी द्वारा भारतीय भाषाओं के सिनेमा को क्षेत्रीय सिनेमा कहना, पर मेरी आपत्ति है, लेकिन उनकी बाकी की चिंता, मेरी भी चिंता है।

आज के सिनेमा का दर्शक, यथार्थ को बहुत करीब से देखना चाहता है। उसकी आखें लपलपाती हुयी जीभ की तरह हर एक पल का सुख भोग लेना चाहती हैं। सिनेमा व्यवसाय के बाजीगर इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। नतीजतन, किसी भी फिल्म को उठा लीजिये और उसमें फिल्माए गए नायिका के रोमांटिक सीन को देखिये। पाएंगे, कि कैमरा नायिका के चेहरे और उसके अभिनय से ज्यादा उसकी कमर, जांघ और छाती के इर्दगिर्द ही अधिक समय तक टिका रहता है; न सिर्फ टिका रहता है, बल्कि क्लोजप भी देता है। यह अनायास नहीं कहा जा सकता, बल्कि आजकल का नया दर्शक क्या देखना चाहता है उसका परिणाम है। फायदा के खिलाड़ियों की टीम लगातार इसका अध्ययन करती रहती है। (इसे व्यक्तिगत रूप से जाँचा जा सकता है। इसके लिए **youtube** पर छोटा-छोटा दो वीडियो अपलोड कीजिये। एक में उदात्त कला का सीन रखिये और दूसरे में 'कुण्डी न खड़काओ राजा... सीधा अन्दर आओ राजा' जैसा सीन। कुछ दिन बाद दोनों का व्यू देखिये। आज के दर्शक के टेस्ट का पता चल जायेगा।) दर्शक के इसी टेस्ट का उन्हें अंदाजा है। अतः कैमरे के सामने प्रस्तुत कला को ये 'फायदा चाहने वाले' लोग प्रभावित करने लगे हैं। बकौल जवरीमल्ल पारख - "बाजार की ताकतें इस बात का प्रचार करती हैं कि सिनेमा एक लोकप्रिय माध्यम है, जिसका मुख्य कार्य मनोरंजन प्रदान करना है। उसकी सार्थकता उसके लोकप्रिय होने और मनोरंजन प्रदान करने में ही है। लेकिन फिल्मों की लोकप्रियता फिल्म की अंतर्वस्तु और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति पर नहीं, बल्कि ऐसे बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिनका फिल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं होता। मसलन, अभिनेताओं की 'मर्द' छवि, अभिनेत्रियों के 'यौन सौन्दर्य' हिंसा के उत्तेजक दृश्य, नृत्य

और संगीत का उन्मादपूर्ण इस्तेमाल इत्यादि लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व बन गए हैं।" (आज के सवाल 26, संपादक : रमेश उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, पृष्ठ-61-62)

तकनीक का पूरा-पूरा उपयोग इक्कीसवीं सदी का भारतीय सिनेमा करने लगा है। हालाँकि छत्तीसगढ़ी, हरियाणवी, राजस्थानी, उड़िया जैसी कई भारतीय भाषाओं का सिनेमा, पूँजी के कारण नई तकनीक की पहुंच से दूर है। तमिल, तेलुगु, मलयालम, मराठी, हिंदी, कन्नड़ भाषी फिल्मों ने नई तकनीक का भरपूर उपयोग किया है। बहरहाल, कहना यह था कि आज के सिनेमा में 'एडिटिंग टेबल' की जिम्मेदारी काफी बढ़ गई है। कैमरे का रोल कहीं न कहीं कम हुआ है। बहुत सारे 'विजुवल इफेक्ट्स' एडिटिंग टेबल पर ही तय किये जाते हैं। यही वह जगह है जहाँ दर्शकों के लिए उस आभासी दुनिया का निर्माण होता है, जिसे देखकर वह रोमांचित हो उठता है। यह आभासी दुनिया इतनी मायावी होती है, कि दर्शकों का व्यक्तिगत और सामाजिक संकटों पर ध्यान ही नहीं जाता। वह दूर कहीं कल्पना के सहारे उड़ता हुआ जीवन का आनंद लेने लगता है। वह भूल जाता है कि उनके आस-पास के किसान आत्महत्या कर रहे हैं, दलितों और स्त्रियों पर अत्याचार हो रहा है, वह भूल जाता है कि उसकी बुनियादी जरूरत क्या है ? व्यावसायिक दृष्टि से ऐसे सिनेमा को भले ही सफल कहा जा सकता है, कलात्मक दृष्टि से नहीं।

आज फिल्मों के कथानक में त्रासदी की जरूरत है। ऐसी त्रासदी जो झकझोर कर रख दे। लेकिन भारतीय परम्परा तो सुखात्मक रही है। दुनिया बदल गयी है लेकिन भारतीय सिनेमा ने इस क्षेत्र में बदलाव की कोई जरूरत महसूस नहीं की। करे भी कैसे ! त्रासदी तो किसानों की होती है, स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों, छात्रों, गाँवों और शहरी गरीब बस्तियों की होती है, जब यही लोग और विषय आज की फिल्मों से गायब हैं, तो फिल्मों के कथानक में त्रासदी कैसे होगी भला ? गाँव और किसानों के मुद्दों पर एकाध फिल्में आती भी हैं तो उसमें उनकी रूमानी तस्वीर पेश करने की कोशिश देखी जा सकती है। ऐसा लगता है-फिल्म नहीं प्रोडक्ट बनाया जा रहा है।

बहरहाल, यहाँ जरूरी एक और बात का जिक्र किये चलता हूँ, यह सिनेमा के भविष्य से सम्बंधित है। तकनीक ने आज की दुनियाँ को अपनी मुट्ठी में कर लिया है। आज हम घर बैठे हर उस सुख का आनंद ले सकते हैं जो हमें चाहिए। जिस प्रकार पहले हमें सिनेमा देखने के लिए सिनेमाघर जाना पड़ता था, वैसी स्थिति आज की नहीं रही। समाज और सिनेमा दोनों के लिए यह खतरे की घंटी है। पहले के सिनेमाघरों में सामुदायिकता होती थी, लेकिन मल्टीप्लैक्स में ऐसा नहीं है, वहाँ सिर्फ वही जा सकता है जो कम से कम 500 रुपये खर्च कर सके। आने वाले समय में खतरा और भी बढ़ने वाला है। आजकल फिल्मों को ऑनलाइन रिलीज करने का प्रचलन बढ़ रहा है। नेट-फ्लिक्स एक ऐसी ही एक वेबसाइट है जहाँ प्रति महीने चंद रुपये देकर नयी रिलीज हुयी फिल्में देखी जा सकती हैं। निर्माता, वेबसाइट के माध्यम से दर्शकों को सीधा अपनी फिल्म उपलब्ध करवाता है। यहाँ सबसे बड़ा खतरा यह है कि फिल्म का दर्शक टीवी, लैपटॉप या मोबाइल तक ही सिमट कर रह जायेगा। सामुदायिकता खत्म हो जाएगी, सिनेमा से जुड़े तमाम छोटे व्यवसाय काल के

गाल में समा जायेंगे। पूंजी सीधे-सीधे उन कुछ मुट्ठी भर लोगों की जेब में जाने लगेगी जो फायदा के दीवाने हैं। इस तरह मल्टीप्लैक्स का भी अंत नजदीक आता हुआ दीख रहा है।

निष्कर्षतः इस बात पर आता हूँ कि तमाम खामियों के बावजूद भारतीय सिनेमा ने अपनी वैश्विक पहचान बनायी है। प्रत्येक वर्ष हजारों फिल्मों का निर्माण करने वाले भारतीय फिल्म उद्योग ने इक्कीसवीं सदी में कुछ ऐसी फिल्मों का निर्माण किया है जो आज के महत्वपूर्ण और जरूरी सवालों को उठती हैं। जिसका प्रभाव निश्चित तौर पर भारतीय समाज पर पड़ा है। लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि इन अल्पसंख्य फिल्मों को अपवाद के रूप में ही देखा जा सकता है। आज तकनीक का उपयोग करके कुछ भी प्रस्तुत करना असम्भव नहीं है, जबकि तकनीक के मामले में हमारा भारतीय सिनेमा कहीं से भी किसी से पीछे नहीं कहा जा सकता। अतः इसके बावजूद भी भारतीय सिनेमा द्वारा पर्याप्त मात्रा में आज के जरूरी और गंभीर सवालों का न उठाना चिंता का विषय है।

आशावान होना मनुष्य का जन्मजात गुण है। इसलिए हम भी यह उम्मीद करते हैं कि आने वाले समय में भारतीय सिनेमा अपनी जिम्मेदारियों को समझेगा और आज के जरूरी सवालों को उठाती हुई फिल्मों का निर्माण करेगा।

#### यह अंक....

यह अंक काफी देर से प्रकाशित हो रहा है जिसका हमे खेद है, लेकिन कहते हैं न, कि 'देर आये दुरुस्त आये', अतः हमने तो दुरुस्त आने का भरसक प्रयास किया है, किन्तु कितना दुरुस्त है, यह आप प्रबुद्ध पाठकों की प्रतिक्रिया के बाद ही तय किया जा सकता है।

इस अंक में डॉ. प्रमोद मीणा ने दक्षिण के स्टार रजनीकांत की तमिल फिल्म 'काला' पर गंभीर विश्लेषण किया है। इक्कीसवीं सदी के मलयालम सिनेमा की रुपरेखा डॉ. टी. शशिधरन, मैमूना पी. और मंजु वेलायुधन ने अपने-अपने लेख के माध्यम से प्रस्तुत किया है। डॉ. ममता खांडल ओड़िया सिनेमा का परिचय अपने लेख के माध्यम से दी हैं। हिंदी फिल्मों पर डॉ. पद्मप्रिया, डॉ. रेखा कुर्रे, प्रियंका शुक्ला, हरिनाथ कुमार, प्रो. रामबक्ष जाट, नवरत्न पांडे, डॉ. कुसुम संतोष विश्वकर्मा, नीरू मोहन वागीश्वरी, आशुतोष श्रीवास्तव, संजय कुमार सिंह और प्रियंका का प्रस्तुत लेख शोध-परक और पठनीय है। तेजस पूनिया ने अपने लेख में पंजाबी सिनेमा का सर्वेक्षण किया है। जगदाले अप्पासाहेब के लेख में आज के मराठी सिनेमा को देखा जा सकता है। इस अंक में शामिल सभी लेखकों ने इक्कीसवीं सदी में बन रहे भारतीय सिनेमा पर गंभीरता से अध्ययन करने के बाद, अपने प्रस्तुत लेख में जरूरी और गंभीर प्रश्नों उठाया है।

दीपक दुआ से तेजस पूनिया की बातचीत, पुनीत बिसारिया से महेश सिंह की बातचीत और आशीष चक्रवर्ती से डॉ. जयराम कुमार पासवान की बातचीत से यह अंक आकर्षक और पठनीय बन पाया है। आप सभी के रचनात्मक सहयोग के बिना इस अंक की कल्पना करना भी मेरे लिए असम्भव था। आप सभी का मेरी और पत्रिका की तरफ से हार्दिक आभार !

अब आप पाठकों की बारी है। आपकी आलोचना और सुझाव के बिना इस अंक की सार्थकता तय नहीं की जा सकती। अतः हमें आपकी प्रतिक्रिया का इन्तजार रहेगा।

*वरिष्ठ कवि, चिन्तक, आलोचक और पत्रिका के परामर्श मंडल के वरिष्ठ सदस्य श्याम कश्यप का जाना, पत्रिका और साहित्य के लिए अपूर्णीय क्षति है। विनम्र श्रद्धांजलि !*